तेल संकट, ओपेक और साम्राज्यवाद

तेल निर्यातक देशों के संगठन - ओपेक - के तेलमंत्रियों ने 16 जनवरी 2001 को कच्चे तेल की आपूर्ति को 15 लाख बैरल प्रति दिन कम करने का फैसला लिया है। इसके पहले अक्टूबर, 2000 में तेल निर्यातक देशों का कोटा 2 करोड़ 67 लाख बैरल प्रतिदिन था। वस्तुतः इससे पूर्व जब तेल निर्यातक देशों के संगठन ने मार्च, 2000 में कोटा निर्धारित किया था, उस समय यूरोप के अलग-अलग देशों में तेल की बढ़ती कीमतों के विरूद्ध, ट्रक ऑपरेटरों और किसानों ने अपनी सरकारों के विरूद्ध व्यापक प्रदर्शन और सड़क जाम आयोजित किये थे। फ्रांस और ब्रिटेन में ट्रक आपरेटरों और किसानों की मांग थी कि जब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तेल की कीमतों में कमी थी, तब भी तेल के दाम तेल कम्पनियां बहुत ऊँचे निर्धारित किए हुए थीं, और कि सरकार तेल की कीमतों का इस्तेमाल इजारेदार कम्पनियों के फायदे के लिए कर रही है। मार्च, 2000 की मीटिंग में जब ओपेक देशों ने कोटा निर्धारित किया था, उससे ठीक पहले अमेरिका के ऊर्जा सचिव भागे-भागे तेल निर्यातक देशों में यह दबाव डालने के लिए गए थे कि तेल कोटा में बहुत ज्यादा कटौती न की जाए। इस बार भी अमेरिका के क्लिंटन प्रशासन के तेल सचिव बिल रिचर्डसन तेल निर्यातक देशों की राजधानियों के तूफानी दौरे पर निकले जिससे कि सऊदी अरब और कुवैत को इस बात के लिए राजी किया जा सके कि तेल कोटा में बहुत ज्यादा कटौती न हो। 16 जनवरी, 2001 से पांच दिन पहले पेरिस में अमेरिकी और यूरोपीय यूनियन के नेताओं ने तेल निर्यातक देशों द्वारा कोटा में ज्यादा कटौती करने के विरुद्ध संयुक्त रूप से आवाज़ उठाई। बिल रिचर्डसन ने कहा कि "न्यूयार्क" की मौजूदा 30 डॉलर प्रति बैरल तेल की कीमत स्वीकार नहीं की जा सकती। अमेरिकी और यूरोपीय यूनियन के नेताओं का कहना है कि यदि तेल कोटा में ज्यादा कटौती की जाती है तो वह अमेरिका की आर्थिक गति को और अधिक धीमा कर देगी। लेकिन अमेरिकी और यूरोपीय यूनियन के नेताओं की धमकी के बावजूद तेल निर्यातक ओपेक देशों ने संयुक्त रूप से कटौती करने का फैसला ले लिया।

तेल निर्यातक देशों का तर्क है कि दिसम्बर से तेल की कीमत 10 डॉलर प्रति बैरल गिर गयी थी इसलिए तेल की गिरती कीमत को रोकने के लिए कोटा में कटौती की जा रही है। उनका कहना है कि तेल उत्पादन में कटौती करने का उद्देश्य 22 डॉलर से 28 डॉलर के बीच तेल की कीमतों को स्थिर रखना है। उनका यह भी कहना है कि इस वर्ष विश्व की ज्यादा धीमी आर्थिक वृद्धि को देखते हुए तेल की मांग में भी कमी आने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए उन्होंने तेल कोटा में कमी करने का फैसला लिया है।

कच्चे तेल के उत्पादन में कटौती क्यों?

तेल निर्यातक देश कच्चे तेल के उत्पादन की खुद तय की गई मात्रा को अचानक कम करने की ओर क्यों जाते हैं? जाहिर है कि कच्चे तेल की आपूर्ति में कटौती से उसकी कीमतों में वृद्धि होगी। पूंजीवादी तर्क के अनुसार तेल कार्टेल का यह मुनाफे में बढ़ोत्तरी करने का अधिकार स्वाभाविक है। यदि दुनिया के इजारेदार अपने मालों के दामों में अपने मन मुताबिक बढ़ोत्तरी करते हैं तो उसी तर्क के अनुसार तेल निर्यातक देशों के संगठन यह काम क्यों नहीं कर सकते? लेकिन यह विश्व के साम्राज्यवादियों को नहीं रास आता। वे अपनी इजारेदारी की धौंसपट्टी और दबाव का इस्तेमाल यहां भी करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त तेल निर्यातक देश कोई एकल इकाई नहीं हैं। ये अलग-अलग अर्थव्यवस्थायें हैं। इनके जहां सांझे स्वार्थ हैं, वहीं इनके स्वार्थों में टकराव भी है। तेल निर्यातक देशों का संगठन इनके स्वार्थों के टकराव को हल करने के लिए तेल उत्पादन का कोटा निर्धारित करता है। लेकिन अलग-अलग तेल निर्यातक देश अक्सर अपने तय किए गए कोटे से अधिक तेल की आपूर्ति करते हैं। मुनाफे की हविश बार-बार करार तोड़ने की ओर ले जाती है। फलस्वरूप तेल की कीमत गिरने लगती है। इससे भी, इनको तेल के कोटे में कमी करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त, तेल निर्यातक देशों के इस संगठन से अलग भी तेल निर्यातक देश हैं। वे भी कच्चे तेल की आपूर्ति करते हैं। तेल की कीमतों में गिरावट का यह भी कारण बनता है। कभी-कभी तेल आयातकर्ता देशों में आर्थिक संकट आ जाते हैं जिससे तेल की मांग कम हो जाती है, इन कारणों से भी तेल निर्यातक देशों का संगठन - ओपेक - तेल के उत्पादन में कमी करके उसकी कीमतों में बढ़ोत्तरी करता रहता है।

वैसे तो तेल निर्यातक देशों का संगठन सितम्बर, 1960 में अस्तित्व में आ गया था, लेकिन जनवरी, 1961 में औपचारिक तौर पर इसका गठन ईरान, इराक, कुवैत, सऊदी अरब और वेनेजुएला द्वारा किया गया था। कालांतर में कतर (1961), इण्डोनेशिया और लीबिया (1962), आबू धाबी (1967) (जिसने 1974 में सदस्यता संयुक्त अरब अमीरात को हस्तांतरित कर दी), अल्जीरिया (1969), नाइजीरिया (1971), इक्वाडोर (1973) तथा गाबोन (1975) इसके सदस्य बने। इसका सदर मुकाम पहले जेनेवा में तथा 1965 में वियना में बनाया गया।

यहां यह भी ध्यान में रखने की बात है कि ओपेक का गठन ऐसे समय में हुआ था जब, अरब राष्ट्रवाद अपने उभार पर था। अमरीकी और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के विरूद्ध संघर्ष तीव्र से तीव्रतर हो रहा था। जियनवादी इज़रायल के विरूद्ध फिलिस्तीनी जनता का संघर्ष बढ़ रहा था। चूंकि सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कुवैत और कतर के पास आबादी की तुलना में तेल - भण्डार बहुत ज्यादा है, इसलिए ओपेक की तेल नीति निर्धारित करने में इन देशों की महत्वपूर्ण व प्रभावी भूमिका रहती है, इनमें भी सऊदी अरब का निर्णायक प्रभाव रहता है। अरब राष्ट्रवाद की लहर ने तथा खुद अपने प्रभाव क्षेत्रों को फैलाने में इन्होंने सितम्बर - अक्टूबर, 1973 में और फिर दिसम्बर, 1973 में तेल की कीमतों में कई गुना की वृद्धि कर दी। इसके साथ ही ओपेक ने संयुक्त राज्य अमेरिका और नीदरलैण्ड को तेल निर्यात करने पर प्रतिबंध लगा दिया। इसके बाद से इन्होंने 1975, 1977, 1979 और 1980 में तेल की कीमतों में बढ़ोत्तरी की। 1973 में जहां तेल की कीमत लगभग 3 अमरीकी डॉलर प्रति बैरल थी, वह बढ़कर 1980 में 30 अमरीकी डॉलर प्रति बैरल हो गयी। 1973 वह समय था, जब अरब देशों व फिलस्तीनी राष्ट्रवादियों और पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा समर्थित इज़रायली जियनवादियों के बीच योम किप्पूर का युद्ध लड़ा गया था। ओपेक देशों की अरब राष्ट्रवाद व फिलस्तीनी राष्ट्रवादियों के साथ यह एकजुटता उस समय के पश्चिमी साम्राज्यवादियों के विरूद्ध थी।

लेकिन ओपेक देशों की यह एकजुटता और साम्राज्यवाद विरोध देर तक नहीं चल सकता था। इसका कारण, खुद इन देशों के शासक वर्ग के चरित्र में है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि ओपेक के चार शक्तिशाली देशों के शासक शेख हैं जो 1973 के बाद अचानक व्यापक तौर पर सम्पन्न हो गए। तेल निर्यात से मिलने वाली विपुल सम्पदा के अचानक मालिक हो जाने से ये शेख पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के बैंकों में पूंजी जमा करने लगे। 1970 से 1980 तक ओपेक देशों की तेल की बिक्री से कुल आमदनी 34 गुना बढ़ गयी थी। परिणामस्वरूप ओपेक देशों में सोना और आरक्षित मुद्रा बहुत बढ़ गयी थी।

ओपेक देशों ने जहां 1973 में और बाद में 1979 में तेल के दामों में भारी पैमाने पर वृद्धि करके और तेलक्षेत्र का राष्ट्रीयकरण करके अपनी आमदनी में भारी वृद्धि की थी, वहीं इनके पास भारी आमदनी से इन देशों में साम्राज्यवादी देशों से आयात की बढ़ोत्तरी भी होने लगी। यदि हम ओपेक देशों में इण्डोनेशिया, वेनेजुएला, अल्जीरिया और नाइजीरिया के कुल निर्यात और बाहरी कर्ज के अनुपात को देखें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। तेल निर्यातक देशों ने जहां 1977 में अपने कुल निर्यात की तुलना में 179.8 प्रतिशत विदेशी कर्ज लिया, वहीं 1984 तक यह अनुपात 189 प्रतिशत तक पहुँच गया। इसी प्रकार इन देशों में सकल घरेलू उत्पाद की तुलना में विदेशी कर्ज का प्रतिशत 1977 में जहां 38.6 था, वह 1984 में बढ़कर 54.4 प्रतिशत हो गया। यहां यह भी ध्यान में रखने की बात है कि मध्य पूर्व के देश, जहां तेल की विपुल सामग्री है, तेल निर्यात से प्राप्त विपुल धन को उस समय तक विदेशी बैंकों में जमा कर रहे थे। इसको भी साम्राज्यवादी देशों के बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक गरीब मुल्कों को कर्ज देने के हथियार के तौर पर इस्तेमाल करने लगे। पेट्रोडॉलर और यूरो डॉलर को 'रीसाइकिलिंग' के जरिये साम्राज्यवादी संस्थाओं की जकड़ को मजबूत करने में इस्तेमाल किया

गया। इस प्रकार, ओपेक देश विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के अंग के तौर पर तथा साम्राज्यवादी वित्तीय महाप्रभुओं के अंतर्गत ही अपने को कायम रख सके। 1997 तक स्थिति यहां पहुँच गयी कि वेनेजुएला के ऊपर विदेशी कर्ज 26 अरब 80 करोड़ डॉलर हो चुका था। नाइजीरिया पर 22 अरब 63 करोड़ डॉलर, इंडोनेशिया पर 55 अरब 86 करोड़ 90 लाख डॉलर, और अल्जीरिया पर 28 अरब 74 करोड़ 10 लाख डॉलर विदेशी कर्ज था। ये सभी देश तेल उत्पादक हैं। ओपेक के सदस्य हैं। इसके बावजूद इनकी अर्थव्यवस्थायें विदेशी कर्ज के बोझ से लदी हुई हैं और खुद ठहराव की शिकार हैं। 1981 तक ओपेक देशों की विदेशों में जमापूंजी 3 अरब 65 करोड़ डॉलर थी और जमा की गई व्यक्तिगत पूंजी इसकी लगभग 15 प्रतिशत थी। इसमें से लगभग आधी पूंजी यूरोप के मुद्रा बाजार तथा अमरीका व ब्रिटेन के बाहर बैंकों में लगे थे। इसके अलावा वे बहुराष्ट्रीय निगमों के शेयर में, प्रतिभूतियों में तथा भू-सम्पत्ति खरीदने में भी पूंजी लगा रहे थे। 1970 से 1980 के बीच तेल निर्यातक देशों की आमदनी की बढ़ोत्तरी का अंदाजा निम्न तालिका से लगाया जा सकता है:

1970 से 1980 तक ओपेक सदस्य देशों की आमदनी (अरब अमरीका डॉलर में)

देशों के नाम	1971	1972	1973	1974	1975	1976	1977	1978	1979	1980
अलजीरिया	0.3	0.7	4.3	4.3	3.6	4.5	5.6	4.6	7.3	11.7
वेनेजुएला	1.4	1.9	3.2	9.4	7.4	8.5	8.0	5.6	12.0	18.9
इराक	0.5	0.6	1.9	6.9	7.6	8.5	9.6	9.6	20.3	26.5
ईरान	1.1	2.4	5.6	19.3	19.9	22.0	23.0	20.9	20.8	11.6
इन्डोनेशिया	0.2	0.4	1.2	4.0	3.7	4.5	5.6	4.8	8.1	14.5
कतर	0.1	0.2	0.6	1.8	1.8	2.0	1.9	2.0	3.1	5.2
कुवैत	0.8	1.6	2.8	8.0	7.9	8.5	8.5	8.0	16.0	18.3
लीबिया	1.3	1.6	2.1	6.6	5.2	7.5	9.4	8.6	14.8	23.2
नाईजीरिया	0.4	1.2	2.0	8.3	6.7	6.8	9.4	8.2	16.1	20.0
संयुक्त अरब अमीरात	0.2	0.2	1.2	5.8	6.5	7.5	8.3	8.0	12.4	19.2
सउदी अरब	1.2	3.1	7.2	28.7	26.7	33.5	37.8	34.6	55.1	104.2

[स्रोत: पैट्रोलियम इकोनॉमिस्ट: 1975-1981 "अरब देशों का समकालीन विकास" पुस्तक में उद्धृत, लोक साहित्य प्रकाशन, लखनऊ, नवम्बर, 85 में प्रकाशित।]

इस आमदनी की व्यापक मात्रा जब पश्चिमी देशों में जमा होने लगी तो साम्राज्यवादी देशों ने अरब देशों को निर्यात किये जाने वाले मालों, सेवाओं और हथियारों के दाम बहुत अधिक बढ़ा दिये। चूँकि ओपेक देशों को तेल की बिक्री से अकूत मुनाफा तो हुआ था लेकिन इनका औद्योगिक विकास न के बराबर हुआ था, अतः इनकी इस स्थिति का साम्राज्यवादी देशों ने खूब फायदा उठाया। इससे यह हुआ कि 1981 के अंत तक आते-आते ओपेक के सदस्य देश वित्तीय आयात करने लगे थे और कुछ सदस्य देशों के कर्जे बढ़ने लगे थे। दरअसल, एक तरफ तो ओपेक देशों के शासक वर्ग साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था में कनिष्ठ साझेदार बन रहे थे, वहीं दूसरी तरफ अपने देशों के भीतर ऐशो-आराम की सुविधा न सिर्फ शासक समूह के लिए उपलब्ध करा रहे थे बल्कि व्यापक आबादी को भी इसमें शामिल कर रहे थे। इन देशों के शासक शेखों की व्यापक आबादी को अपने पक्ष में करने के लिए यह नीति रही है कि तेल की बिक्री से मिली अकूत सम्पदा में से थोड़ा सा हिस्सा उन्हें दे दिया जाए। यही कारण है कि स्थानीय आबादी ज्यादातर सरकारी कामों और सेवाओं में लगी है, जबकि विदेशी परियोजनाओं के निर्माण के लिए विदेशी मजदूर लगाए गए हैं। इस तरह से स्थानीय और विदेशी मजदूरों के बीच सामाजिक, सम्पत्ति सम्बन्धी और कानूनी भेदभाव करके वे स्थानीय आबादी का समर्थन हासिल करने में तात्कालिक तौर पर सफल रहे थे। लेकिन जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति डावांडोल होती गयी है, इन ओपेक देशों के शासकों द्वारा अब जनता को दी जाने वाली सब्सिडी और सुविधाओं में कटौती भी की जाने लगी है।

ओपेक के सदस्य देश और राष्ट्रवाद

ओपेक के सदस्य देशों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे देश आते हैं जिन्होंने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों से विजय हासिल करके सत्ता हासिल की थी और सत्ता में आने के बाद भी उनका साम्राज्यवाद विरोधी तेवर बना रहा। दूसरी श्रेणी के देशों में ऐसे देश आते हैं जो या तो बहुत पहले उपनिवेशवाद से मुक्त हो गए थे लेकिन बाद में साम्राज्यवादी जकड़ में आ गये, या ऐसे देश जहां साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन के टकराव के कारण साम्राज्यवादियों ने सत्ता सौंप दी। तीसरी श्रेणी में ऐसे देश आते हैं जहाँ विश्वव्यापी उपनिवेशवाद विरोधी लहर के फलस्वरूप देशी सामंती जागीरों को सत्ता सौंपने के लिए उपनिवेशवादियों को मजबूर कर दिया गया था, इसलिए इन देशों में सामंती व कबीलाई तत्व राज्यसत्ता में काबिज हो गए।

पहली श्रेणी के देशों में अल्जीरिया, लीबिया ओर इराक आते हैं। अल्जीरिया और लीबिया में क्रमशः फ्रांसीसी और इटली के उपनिवेशवादियों के विरुद्ध संघर्षों के फलस्वरूप देशी सत्ताएं अस्तित्व में आयी थीं। इन समाजों में अनौपनिवेशीकरण का काम एक हद तक किया गया। वहां की राज्यसत्ता ने तेल क्षेत्रों का राष्ट्रीयकरण किया तथा तेल कम्पनियां राजकीय क्षेत्र में स्थापित कीं। एक हद तक का पूंजीवादी विकास होने के बाद इन समाजों के शासक वर्गों का स्वार्थ विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के साथ अभिन्न रूप से जुड़ गया था, अतः इनका राष्ट्रवादी तेवर भी कम होता गया और मुख्यतः राष्ट्रवाद का इस्तेमाल शासक वर्ग अपने स्वार्थों के लिए करने लगा। अब मेहनतकश जनता को देने के लिए इस राष्ट्रवाद के पास कुछ भी सकारात्मक नहीं बचा था। यही हाल इराक के साथ हुआ था। अल्जीरिया, लीबिया और इराक में अभी भी शासक हल्कों में कमोवेश साम्राज्यवाद-विरोधी तेवर देखने को मिलता है, लेकिन इन समाजों में अब शासक वर्ग मूलतः जन-विरोधी है और यह राष्ट्रवाद का या साम्राज्यवाद-विरोध का इस्तेमाल अपने निहित स्वार्थों के लिए करता है। इसी प्रकार दूसरी श्रेणी के देशों, वेनेजुएला और इंडोनेशिया जैसे देशों, में उपनिवेशवाद का खात्मा अलग-अलग स्थितियों में हुआ था। वेनेजुएला में स्पेन के औपनिवेशिक शासन से मुक्ति 1822 में हो गयी थी। उसके बाद अलग-अलग फौजी तानाशाहों के हाथ में इसकी सत्ता रही और यह अमरीका का नव उपनिवेश बना रहा। यहां तेल क्षेत्र का पता बहुत पहले लग गया था और 1920 के दशक से तेल उत्पादन होने लगा। काफी लम्बे समय तक यह तेल उत्पादन में संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद दूसरे नम्बर में था। वहां के तेल पर बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियों का नियंत्रण बना हुआ था और आज भी शैल जैसी कम्पनियों का तेल निकासी से लेकर शोधन तक पर नियंत्रण है। वेनेजुएला लम्बे समय तक अमरीकी साम्राज्यवाद का नव उपनिवेश बना हुआ था। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर नव उपनिवेशवाद के चरण के खात्मे से और देशी पूंजीपति वर्ग की बढ़ती ताकत ने अन्य नव-उपनिवेशों की तरह इस देश में भी राजनीतिक स्वतंत्रता को औपचारिक रूप से एक हद तक वास्तविक की तरफ ले जाने में भूमिका निभाई। यहां के देशी शासक वर्ग अमेरिकी और अन्य साम्राज्यवादियों के साथ घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं। बाकी आबादी अमेरिकी नियंत्रण के विरुद्ध समय-समय पर आवाज उठाती रही है। लेकिन शासक पूंजीपति वर्ग के स्वार्थ साम्राज्यवादियों का साथ हैं। इंडोनेशिया भी 1949 में स्वतंत्रता के बाद से 1965 तक के बीच अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को एक हद तक आगे बढ़ाते हुए विकास करके एक पूंजीवादी देश में तब्दील हो गया है। लेकिन इस दौरान जब यह प्रक्रिया चल रही थी तब भी यह देश विश्व-पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़ा हुआ था और अब ऐसी स्थिति आ पहुंची है कि यहां के शासकों की साम्राज्यवाद विरोध में कोई सकारात्मक भूमिका नहीं है।

जहां तक ओपेक के मध्यपूर्व के अरब देश हैं इनमें अधिकांश में शेखशाही हैं और इन समाजों का पूंजीवादी रूपान्तरण शेखशाही के बावजूद हो रहा है। तेल की अकूत सम्पदा के स्वामी हो जाने के बाद देश के भीतर पूंजीवादी तौर-तरीके विकसित हो रहे हैं बल्कि हो चुके हैं। लेकिन राजनीतिक तौर पर शेखशाही है। कुवैत में तो कहने के लिए संवैधानिक राजतंत्र है, लेकिन असली सत्ता अमीर के हाथ में है। सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात और कतर में तो सीधे शेखों का ही शासन है। ये समाज पूंजीवादी विकास का एक अजीब नमूना पेश करते हैं। यहां के शेख खुद करोड़ों-अरबों डालर की कम्पनियों के मालिक हैं, बैंकों में हिस्सेदार हैं, होटलों के

मालिक हैं। इनके अतिरिक्त भी देशी पूंजीपति वर्ग, व्यापारी वर्ग और निम्न मध्य वर्ग अस्तित्व में हैं। इसके बावजूद राजशाही है। यह परिघटना प्रदर्शित करती है कि पूंजीवादी विकास के साथ कोई जरूरी नहीं है कि राजनीतिक तंत्र में भी जनवाद हो। ये सारी शेखशाहियां ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के हाथ में थीं। अगल-बगल के देशों के अरब राष्ट्रवादी आंदोलन को देखकर ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने इन शेखशाहियों को बरकरार रखा था और इनको अपने सहयोगी वर्ग के तौर पर विकसित किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब तेल के खजाने का पता चला तो ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इस क्षेत्र में अपनी फौजें और राजनीतिक दखल और बढ़ा दिया। लेकिन समूची दुनिया में राष्ट्रवाद के उभार के कारण उनको यहां से जाना पड़ा। सत्ता इन्हीं शेखों और अमीरों के हाथों में बनी रही। एक तरफ तो तेल क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण से इन देशों के शासकों के हाथ में अकूत सम्पदा लगी तो दूसरी तरफ इस अकूत सम्पदा के इस्तेमाल के लिए इनके पास सामाजिक ताना बाना नहीं था। न तो इन शासकों का चरित्र ही ऐसा था जो इनको ऐसा करने के लिए प्रेरित करता। इसलिए ये ज्यादातर पश्चिमी बैंकों में अपना पैसा जमा करने लगे। लेकिन अरब राष्ट्रवाद से प्रभावित यहां की जनता के तेवर को भी ये नजरअंदाज नहीं कर सकते थे। इसलिए ये शुरुआती तौर में फिलिस्तीनी जनता की मुक्ति की लड़ाई के समर्थक बने थे।

लेकिन शेख व अमीर कभी भी वर्ग के बतौर उपनिवेशवाद-विरोधी नहीं थे और न तो ये साम्राज्यवाद के विरोध में कभी भी रहे। इनको यह हमेशा लगता है कि साम्राज्यवाद के साथ रहने में ही इनका वर्ग स्वार्थ है। देशी जनता की बगावत का मुकाबला करने में साम्राज्यवाद ही इनका मददगार होगा। इसीलिए ये हुकूमतें जहां एक तरफ इज़राइल के विरुद्ध फिलिस्तीनी संघर्ष को समर्थन देती हैं वहीं दूसरी तरफ अमरीकी साम्राज्यवाद का सबसे मजबूत गढ़ बनी हुई हैं। अमरीका ने जहां मध्यपूर्व के क्षेत्र में अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए मिश्र के शासक वर्ग को अपने बाहुपाश में जकड़ लिया है, वहीं सऊदी अरब और कुवैत उसके सबसे विश्वासपात्र तेल निर्यातक देश बने हुए हैं। इन समाजों में अब जो भी क्रांति होगी, वह इन शेखों और अमीरों के तेल के साथ-साथ पूजीपतियों के विरुद्ध भी होगी। वैसे इन समाजों में जनतांत्रिक कार्यभार बहुत व्यापक स्तर पर बचे हुए हैं, लेकिन इन समाजों का आर्थिक आधार मुख्यतः पूंजीवादी हो चुका है। इसलिए राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य से इन समाजों में कोई क्रान्तिकारी रूपान्तरण नहीं हो सकता। राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य आज इन देशों में शेखों और पूंजीपतियों को ही मजबूत करेगा।

वास्तविकता यह है कि अरब राष्ट्रवाद की तेज लहर ने जहाँ तेल कूपों पर नियंत्रण करने और तेल की कीमतों को बढ़ाने में मदद की, वहीं तेल से प्राप्त विपुल सम्पदा ने इन्हें विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के साथ घनिष्ठता से जोड़ दिया।

ओपेक के देश और साम्राज्यवाद

1973 में जब तेल की कीमतों में अचानक वृद्धि हुई थी तो बहुत से नेकनीयत मासूम लोगों को यह लगा था कि अरब देशों के शेख भले ही अपने देश की मेहनतकश जनता के दुश्मन हों, फिर भी वे साम्राज्यवाद विरोधी हैं। उस समय के सामाजिक साम्राज्यवादी कुछ देशों के विकास को गैर पूंजीवादी रास्ते पर चलने की संज्ञा दे रहे थे। अल्जीरिया, लीबिया और इराक़ के समाजवादी रास्ते की ओर अग्रसर होने की चर्चा कर रहे थे। जबकि वास्तविकता इससे अलग थी, बल्कि ज्यादातर मामलों में इसके विपरीत थी। अरब राष्ट्रवाद ने उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में प्रगतिशील भूमिका निभायी थी और उसकी ऊष्मा 60 के दशक तक बाकी थी। लेकिन जैसे ही अरब-इज़राइल संघर्ष के बाद तेल निर्यातक देशों के संगठन ने तेल की कीमतों में वृद्धि की, वैसे ही अरब राष्ट्रवाद में दरारें पड़ना शुरू हो गयीं। साम्राज्यवादी देशों ने, विशेष तौर पर अमरीकी साम्राज्यवाद ने 50 के दशक से ही ईरान के शाह को सत्तासीन करने में भूमिका निभाई थी। वह वस्तुतः खाड़ी में अमरीका के हितों का झंडाबरदार था, लेकिन वह भी तेल निर्यातक देशों के संगठन द्वारा तेल की कीमतों में की गयी बढ़ोत्तरी का समर्थन करता था। वास्तव में ओपेक के देशों और साम्राज्यवादी ताकतों के बीच हितों के टकराव होते रहते हैं। जैसे कि तेल का कोटा कम करने के सवाल पर हितों में टकराव होता रहा है। दूसरी तरफ पश्चिमी देशों

विशेष तौर पर संयुक्त राज्य अमरीका के शासक यह चाहते हैं कि फिलिस्तीन-इज़राइल संघर्ष में सऊदी अरब व अन्य देश चुप रहे। लेकिन सऊदी अरब के शासक इस सवाल पर अरब देशों में तथा खुद अपने देशों की जनता में अपनी प्रतिष्ठा नहीं खोना चाहते। इसी तरह, पश्चिमी पूंजीवादी देश और संयुक्त राज्य अमरीका सभी ओपेक देशों में राष्ट्रीकृत उद्यमों का निजीकरण चाहते हैं और वे यह भी चाहते है कि विदेशी पूंजी को तेल निष्कासन और शोधन दोनों में खुली छूट मिले। लेकिन इन सवालों पर ओपेक देशों के शासकों और साम्राज्यवादी देशों के बीच मतभेद बने रहते हैं। इसके बावजूद, अमरीकी साम्राज्यवादी ओपेक देशों के भीतर फूट डालने और अरब देशों के शासकों के बीच अपने घनिष्ठ सहयोगी बनाने में सफल रहे हैं। यह इन शासको के वर्ग चरित्र के कारण भी सम्भव हो सका है। तेल निर्यातक देश इराक एक दूसरे तेल निर्यातक देश ईरान के साथ दस साल तक युद्धरत रहा। उस समय अमरीका अप्रत्यक्ष तौर पर इराक की मदद कर रहा था। लेकिन इराक द्वारा कुवैत पर कब्ज़ा करने का बहाना लेकर अमरीका इराक के विरुद्ध खाड़ी युद्ध में पूरी ताकत के साथ कूद पड़ा। उसके इस खाड़ी युद्ध में सऊदी अरब और कुवैत तो घनिष्ठ सहयोगी थे ही, मिश्र जैसे देश भी अमरीका के पक्ष में खड़े हो गये। वास्तव में इस खाड़ी युद्ध के दौरान अमरीका को लाभ ही लाभ मिला। एक तरफ तो सोवियत संघ के विघटन के बाद एक ध्रुवीय दुनिया स्थापित करने में उसे अपने बाहुबल का प्रदर्शन करने का मौका मिला, वहीं दूसरी तरफ इस युद्ध का सारा खर्च सऊदी अरब, कुवैत और अन्य पूंजीवादी देशों को उठाना पड़ा। अमरीका को पश्चिम एशिया के क्षेत्र में अपने वर्चस्व को स्थापित करने में मदद तो मिली ही, साथ ही वह दुनिया को बताने में भी सफल रहा कि यदि कोई सद्दाम हुसैन जैसा अड़ियल रूख अपनायेगा तो उसका भी हश्र ऐसा ही होगा। खाड़ी युद्ध के लगभग एक दशक बीत जाने के बावजूद अमरीका इराक को तेल नहीं बेचने देता। इराक पर आर्थिक प्रतिबंध लगे हुए हैं। इराक के ओपेक का संस्थापक सदस्य होने के बावजूद, ओपेक के देश अमरीका के सामने चुप हैं। यही अमरीका अपने लेबनान में बनाये गये बंधकों को छुड़ाने के लिए ईरान पर प्रतिबंध के बावजूद उसको हथियार बेचने का कुकर्म पहले ही कर चुका है।

सही बात तो यह है कि अब राष्ट्रवाद में ऐसी कोई ऊष्मा नहीं रह गयी है जो अरब देशों के शासक वर्गों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध या अमरीकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई में दूर तक ले जा सके। अरब देशों के शासकों का मुनाफा यदि अमरीका के साथ सहयोग करने से बढ़ता है तो भाड़ में जाए अरब राष्ट्रवाद! वे किसी भी पूंजीपति की तरह अपने मुनाफों को अधिकतम करने के लिए हर सम्भव कदम उठायेंगे। और वे वस्तुतः यही कर भी रहे हैं।

अब वह समय गया जब ईरान के प्रधानमंत्री मोसादेह मुहम्मद पश्चिमी इजारेदार तेल कम्पनियों के बारे में यह ऐलान कर रहे थे,

> "पैट्रोलियम उद्योग ने जनता की खुशहाली के लिए या मेरे देश के औद्योगिक विकास की तकनीकी प्रगति के लिए व्यवहार में कुछ भी नहीं किया है।"

मोसादेह ने सुरक्षा परिषद् के समक्ष साम्राज्यवाद के राजनीतिक पहलू की चर्चा करते हुए बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनी पर यह आरोप लगाया था :

> "यह कहने की जरूरत नहीं है कि जब तक पूर्व एंग्लो-ईरानी तेल कम्पनी जैसी कम्पनी सम्पदा के स्रोत पर एकाधिकार रखती थी, तब तक ईरान की सरकार और जनता राजनीतिक आजादी का उपयोग नहीं कर सकती थी। अपने व्यापार के मुखौटे के बावजूद यह उस पुरानी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की तरह थी जो थोड़े से समय में ही भारत पर अपना नियंत्रण स्थापित कर चुकी थी। पूर्व एंग्लो-ईरानी तेल कम्पनी की सालाना आमदनी सरकार से भी ज्यादा थी। यही बात इसके आयात और निर्यात के लिए भी सच थी। यह देश के अंदरूनी मामलों में सक्रियता से हस्तक्षेप करती थी, और मज़लिस के चुनावों तथा मंत्रिमंडलों के गठन में इस तरह से दबाव डालती थी जिससे कि इसके नियंत्रण के अंतर्गत स्रोतों से अधिकतम मुनाफों को बटोरा जा सके। देश के भीतर जटिल सांगठनिक जाल के जरिए, सरकारी मंत्रालयों को भ्रष्ट करके और देशी पत्रकारों तथा राजनीतिज्ञों को गैरकानूनी समर्थन देकर इसने वस्तुतः राज्य के भीतर राज्य स्थापित कर लिया था और धीरे-धीरे ईरानी राष्ट्र की आजादी को हड़प लिया था!..."
>
> (15 अक्टूबर, 1951 को राष्ट्र संघ सुरक्षा परिषद् में दिये गये भाषण का अंश

यही तस्वीर आज भी बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियों की है। यदि ब्रिटिश इजारेदार कम्पनी शैल का उदाहर

लिया जाए तो नाइजीरिया में कुल तेल उत्पादन का आधा हिस्सा सिर्फ शेल का है। इसी शेल कम्पनी ने ओगोनी लैण्ड की जमीन, पानी और हवा को जहरीला बना दिया था। केन सारो-वीवा को नवम्बर '95 में इसी शेल कम्पनी के विरोध के कारण मौत की सजा दी गयी थी। शेल कम्पनी की 128 देशों में 1500 सबस्डियरी कम्पनियां हैं। इस शेल कम्पनी ने न सिर्फ नाइजीरिया में सैनिक शासन की मदद की है बल्कि रोडेशिया की अल्पसंख्यक गोरी सरकार के लिए भी प्रतिबंध के बावजूद तेल आपूर्ति करती रही है।

इसी प्रकार अमरीका की इजारेदार तेल कम्पनियों के फायदे के लिए अमरीका सिर्फ फारस/अरब के खाड़ी क्षेत्र में 23000 सैनिक, 205 पानी के जहाज और 300 युद्धक विमान तैनात किए रहता है। वह ऐसा क्यों न करें? खाड़ी के देशों में तेल का अकूत भण्डार है जो साम्राज्यवादी उद्योगों के लिए, विशेष तौर पर भीमकाय तेल निगमों के लिए (बदनाम "सात बहनों" के लिए) तथा हथियार निर्माताओं के लिए अक्षय सम्पदा के स्रोत हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से ब्रिटेन दूसरे देशों में होने वाली 96 सैनिक कार्रवाईयों में शामिल रहा है, जिनमें 26 तो, पश्चिम एशिया में रही हैं। इसका असली मकसद ब्रिटिश की दो सबसे बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों-शेल और 'ब्रिटिश पैट्रोलियम' के मुनाफों की रक्षा करना तथा उनकी तेल सम्पदा की हिफाजत करना रहा है। यही उद्देश्य 1991 के खाड़ी युद्ध में अमरीका का भी रहा है और आज भी है। अमरीका अपनी इजारेदार तेल कम्पनियों के मुनाफे को अधिकतम करने के लिए अरब देशों को विशेष ललचाई निगाहों से देखता है।

हालांकि अमरीका के पास भी तेल भण्डार हैं, लेकिन उसके तेल की निकासी में अत्यधिक खर्च होता है। तेल की बहुराष्ट्रीय इजारेदार कम्पनियों की मुनाफे की अतृप्त प्यास को बुझाने के लिए अमरीका लगातार तेल भण्डारों पर निगाह लगाये हुए है। दुनिया के प्रमुख तेल भण्डार की क्षमता का निम्न तालिका से पता चलता है :

कच्चा तेलः उत्पादन और स्रोत भण्डार

देश	उत्पादन वर्ष 1997 (करोड़ टन में)	विश्व उत्पादन का %, 1997 में	स्रोत भण्डार, 1997 (अरब टन में)
सऊदी अरब *	44.99	12.9%	35.8
यू.एस.ए.	37.92	10.9%	3.7
रूस	36.29	10.4%	3.1
ईरान *	14.20	4.1%	12.7
वेनेजुएला *	17.35	5.0%	10.3
मैक्सिको	17.06	4.2%	5.7
चीन	16.01	4.6%	3.3
नार्वे	15.69	4.5%	1.3
यू.के.	12.77	3.7%	0.7
संयुक्त अरब अमीरात *	12.12	3.5%	12.6
कनाडा	11.91	3.4%	0.8
नाइजीरिया *	11.28	3.2%	2.3
कुवैत *	10.41	3.0%	13.3
इंडोनेशिया *	7.32	2.1%	0.7
लीबिया *	7.02	2.0%	3.9
अल्जीरिया *	6.19	1.8%	1.2
इराक *	5.83	1.7%	15.1
ओमान	4.51	1.3%	0.7
ब्राजील	4.30	1.2%	0.7
अर्जेण्टाइना	4.26	1.2%	0.4
ऑस्ट्रेलिया	2.88	0.8%	0.2
कतर *	3.25	0.9%	0.5
भारत	3.70	1.1%	0.6

[*स्रोतः टाटा स्टेटिस्टिकल * ओपेक देश आउटलाइन ऑफ इण्डिया 2000-2001*]

इस तालिका को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि तेल के स्रोत भण्डार ओपेक देशों में बहुत ज्यादा हैं और इन देशों की आबादी कम है। इन तेल भण्डारों पर साम्राज्यवादियों की गिद्ध दृष्टि लगी हुई है। वे इनको हथियाने में हर तरह के दवाव का इस्तेमाल करते रहे हैं। भीमकाय इजारेदार तेल कम्पनियां अब फिर से ओपेक देशों में घुसने की कोशिश कर रही हैं। अमरीका अपनी आर्थिक व फौजी ताकत के साथ इन कम्पनियों की मदद में खड़ा है। इसलिए वह तेल निर्यातक देशों के साथ प्रलोभन और दबाव, दोनों नीतियां अपना रहा है।

अमरीका का ओपेक देशों में सबसे विश्वसनीय सहयोगी सऊदी अरब रहा है और अभी भी है। सऊदी अरब के पास सबसे अधिक तेल भण्डार भी हैं। 1970 के दशक से ही अमरीका सऊदी अरब के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध कायम करने की कोशिश करता रहा है। हर अमरीकी प्रशासन सऊदी अरब को अपनी नीतियों को लागू करने के लिए वित्तीय सहायता के लिए इस्तेमाल करता रहा है। सऊदी अरब अमरीका से अत्याधुनिक हथियार भी खरीदता रहा है।

यहां यह भी ध्यान में रखने की बात है कि 1981 में तेल की कीमतें जहां 40 डॉलर प्रति बैरल के आस पास थीं, वे 1986 तक घट कर दस डॉलर प्रति बैरल से नीचे आ गयी थीं। ये कीमतें 1999 तक आमतौर पर 20 डॉलर प्रति बैरल से नीचे ही थीं। अन्य ओपेक देशों की तरह सऊदी अरब का विदेशी बैंकों में पैसा जमा था। एक अनुमान के अनुसार 1981 में यह लगभग 1 खरब डॉलर के आस पास था। सऊदी अरब ने खाड़ी युद्ध में 55 अरब डॉलर खर्च किए थे। इसके अतिरिक्त उसने अत्याधुनिक हथियार खरीदने में बड़े पैमाने पर खर्च किया। एक तरफ सऊदी अरब बड़े पैमाने पर खर्च कर रहा था और दूसरी तरफ जब तेल की कीमतें गिरीं तो उसकी अर्थव्यवस्था लड़खड़ा गयी। 1983 से ही लगातार सऊदी अरब घाटे की अर्थव्यवस्था का शिकार रहा है। जब इन घाटों की पूर्ति के लिए कोई फण्ड नहीं रहा तो उसने घरेलू बाजार से कर्ज लेना शुरू कर दिया। सन् 2000 तक सऊदी का कुल घरेलू कर्ज लगभग 133 अरब डॉलर तक पहुंच गया है। यह रकम उसके सकल घरेलू उत्पाद से भी ज्यादा है। जब 1998 में तेल की कीमत बहुत ज्यादा गिर गई तो सऊदी की आर्थिक हालत और भी खराब हो गयी। 1998 का बजट घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 11% हो गया था। उसने अपनी सोने का अंडा देने वाली मुर्गी राष्ट्रीय तेल कम्पनी 'अराम्को' (ARAMCO) की साख का इस्तेमाल करते हुए, उसके नाम 4.6 अरब डॉलर का विदेशी कर्ज़ लिया। अब अमरीका उस पर दबाव डाल रहा है कि वह अपने खर्चों में कटौती करे, सरकारी खर्च पर दवा और स्वास्थ्य सेवा बंद करे या कम करें, विद्युत कम्पनियों का निजीकरण करे। निजी देशी और विदेशी पूंजी का ताना बाना खड़ा करने और उसे मजबूत करने में देश का पिछले दो दशकों में यह हाल हो गया है। इससे अन्य तेल निर्यातक देशों की स्थिति को समझा जा सकता है। जिस तरह से अचानक पूंजी भण्डारण इन देशों में हो गया था, उसी तरह ये आज घाटे की अर्थव्यवस्था के देश में तब्दील हो गए हैं। चूंकि इन देशों के शासक वर्ग का स्वार्थ, अब वित्तपतियों के साथ नत्थी हो गया है, इसलिए ये अब देश की जनता पर और ज्यादा बोझ बढ़ाने के लिए देर-सवेर मजबूर होंगे। एक समय में, जहां ये तेल कूपों का और तेल कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर रहे थे, वहीं अब ये खुद इजारेदार तेल कम्पनियों को साझीदार बनाने के लिए आमंत्रित करेंगे।

एक तरफ ओपेक देशों की मजबूरी उन्हें विदेशी पूंजी और इजारेदार कम्पनियों को निमंत्रित करने की ओर ले जायेगी, वहीं दूसरी तरफ ये अपनी सरकारों के पास यह अधिकार भी रखना चाहेंगे कि अपने कच्चे तेल का दाम खुद निर्धारित कर सकें। यह ऐसी स्थिति है जो पहले से भिन्न है। पहले इजारेदार कम्पनियां राजनीतिक नियंत्रण तक पहुंच जाती थीं, अब इसकी सम्भावना कम है। इसका कारण यह है कि आज राजनीतिक नियंत्रण आम तौर पर सम्भव नहीं दिखता। दुनिया का भौगोलिक बंटवारा सिर्फ इस कारण से सम्भव नहीं है क्योंकि दुनिया की जनता की चेतना इससे आगे बढ़ गई है। हालांकि वित्तीय पूंजी के लिए या साम्राज्यवाद के लिए यह सबसे अनुकूल परिस्थिति होगी। लेकिन किसी साम्राज्यवादी की इच्छा से ही समाज नहीं चलता। जनता की चेतना भी अपनी भूमिका निभाती है। इसलिए ओपेक देश साम्राज्यवादी पूंजी के अधीन आने के बावजूद अपनी राजनीतिक आजादी से भी वंचित हो जायेंगे, इसकी सामान्य तौर पर सम्भावना नहीं है। हो सकता है कि आगे आने वाले समय में ओपेक देशों के शासक जब जनता की सुविधाओं को सीमित करें तो इनको जन-प्रतिरोधों

का सामना करना पड़े। ये शासक इसी से भयभीत हैं। अभी तक मेहनतकश जनता को सुविधाएं देकर व्यवस्था में आत्मसात करने में ये सफल रहे हैं। इसी कारण विरोधी आवाज को कुचलने में भी आसानी से सफल होते रहे हैं। जन-प्रतिरोधों के भय से आक्रांत ये शासक किसी न किसी रूप में सुविधाओं को देना अधिक से अधिक समय तक जारी रखना चाहेंगे। यह उनके वर्ग की सत्ता में बने रहने की आवश्यक शर्त बन गई है। इसी से ये समय-समय पर तेल की कीमतों में वृद्धि करने को बाध्य होंगे। ये अंतर्विरोधी बातें, ओपेक देशों की शासकों की स्थिति से तय होती हैं। इसलिए विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में एकीकृत होने के बावजूद ओपेक देशों के शासक वर्ग का विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ अंतर्विरोध भी बना रहेगा। लेकिन अब इस शासक वर्ग की साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में कोई दूरगामी सार्थक भूमिका नहीं रहेगी।

ओपेक देशों द्वारा बार-बार कीमतें बढ़ाने का बहाना बनाकर भारत जैसे देशों के शासक वर्ग लगातार पैट्रोलियम पदार्थों की कीमतें बढ़ाते रहे हैं। एक तरफ तो शासक हल्कों में यह आवाज उठाई जाती है कि सरकार तेल पूल की मद को समाप्त कर दें और निजी पूंजीपतियों को तेल भण्डारण और शोधन तथा फुटकर बिक्री के लिए इस क्षेत्र को छोड़ देना चाहिए। हो सकता है कि तेल पूल के घाटे को समाप्त करने के लिए भारत का शासक वर्ग यह कदम उठाये। यह भी अजीब बात रही है कि जब अंतर्राष्ट्रीय बाजार में कच्चे तेल की कीमतों में गिरावट आती रही है तब भी भारत में तेल की कीमतें लगातार बढ़ती रही है। जिस प्रकार ओपेक देशों के शासक वर्ग अपने स्वार्थों को आगे बढ़ाने के लिए तेल की कीमतें बढ़ाता है, उसी प्रकार भारत जैसे देशों के शासक भी अपने वर्गीय स्वार्थों को आगे बढ़ाते हुए तेल की कीमतों में वृद्धि करते हैं। केरोसीन तेल, एल. पी.जी. गैस और डीजल के दामों में भी बढ़ोत्तरी की चर्चा चल रही है। कुछ दाम तो पहले ही बढ़ाए जा चुके हैं। जिस तरीके से भारतीय शासक वर्ग ने यहां की जनता के विरुद्ध चौतरफा युद्ध छेड़ रखा है, हो सकता है कि तेल के दामों में और भी ज्यादा बढ़ोत्तरी की जाय।

ओपेक देशों के शासकों को कोसना और यहां के शासकों के तेल पूल के घाटे के बारे में चिंतित होना, शासकों के अतिरिक्त कुछ डरपोक मुर्गीनुमा बुद्धिजीवियों की फितरत हो सकती है लेकिन भारतीय शासकों के यह चरित्र में है कि वह अपने लिए सब्सिडी और सुविधायें बटोरता है, जबकि मेहनतकश आबादी की नाममात्र की सुविधाओं को भी छीन लेना चाहता है। तेल को चाहे निजी पूंजीपतियों को दे दिया जाय चाहे यह सरकारी नियंत्रण में रहे, दोनों ही स्थितियों में यह भारतीय शासक वर्ग की सेवा करेगा। चूंकि इस समय निजीकरण का बोलबाला है, इसलिए आज निजी क्षेत्र में देने की बात हो रही है, जबकि एक समय में निजी कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा था।

संक्षेप में तेल निर्यातक देशों के संगठन द्वारा तेल उत्पादन में की गई कटौती यह दर्शाती है कि ये देश विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था का अंग होते हुए भी अपने निर्णय लेने के अधिकार को कमजोर नहीं करना चाहते। हालांकि इन देशों के शासक न तो अपने देश के मजदूरों और मेहनतकशों के मित्र हैं और न ही दुनिया की मेहनतकशों के। ये अपने-अपने देशों के सर्वहारा और मेहनतकश जनता के उसी तरह मुख्य शत्रु हैं जिस तरह अमरीकी साम्राज्यवादी और अन्य साम्राज्यवादी ताकतें उनकी शत्रु बनी हुई हैं। तेल जैसी विश्व अर्थव्यवस्था की बुनियादी जरूरत का इस्तेमाल दुनिया की इजारेदार कम्पनियों के साथ मिलकर समूचे विश्व की मेहनतकश जनता के शोषण के लिए कर रही हैं। स्वाभाविक है जब तक समूचे विश्व की मेहनतकश आवाम के साथ मिलकर इन तेल उत्पादक देशों के मजदूर वर्ग व मेहनतकश अवाम इस प्राकृतिक सम्पदा को मेहनतकशों की सम्पदा बनाने को लक्ष्य करके अपने संघर्ष को नहीं केन्द्रित करेंगे तब तक इस बुनियादी समस्या का कोई समाधान नहीं होगा। तब तक कच्चे तेल के स्रोतों और उसकी कीमतें शासक वर्गों के बीच छीना झपटी और लूटखसोट का साधन बनी रहेंगी। ओपेक देशों के सर्वहारा वर्ग के हित न तो उनके शासकों के हित से मेल खाते हैं और न ही मेल खा सकते हैं। इसलिए साम्राज्यवाद विरोध मुख्यतः वहां के शासक वर्ग के विरूद्ध केन्द्रित होगा। ■